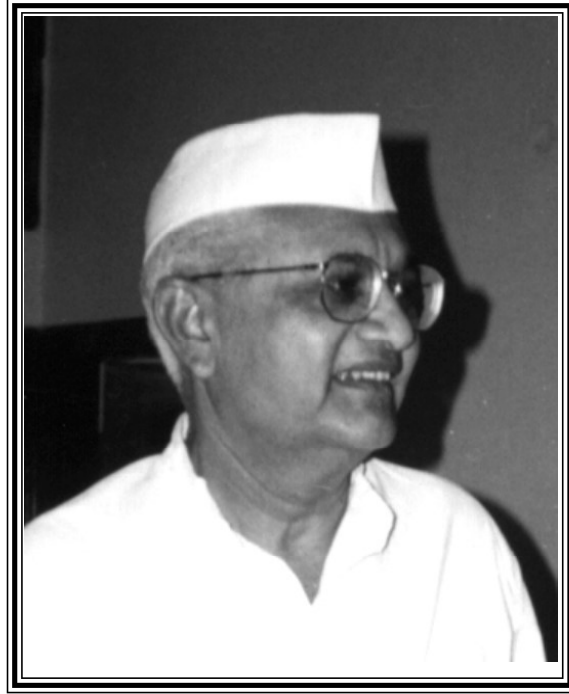


प्रातःस्मरणीय मुमुक्षुजीवोंके परम तारणहार,
 पंचमकालमें अध्यात्म अमृतकी वर्षा करनेवाले निष्कारण करुणाशील
 सौम्यमूर्ति पूज्यभाईश्री शशीभाईके समाधिदिन पर उनके चरणोंमें
 कोटी कोटी वंदन!



जिन सत्पुरुषोंने जन्म, जरा और मरणका नाश करनेवाला, स्वस्वरूपमें सहज अवस्थान होनेका उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। ऐसे सर्व सत्पुरुषोंके चरणारविंद सदा ही हृदय में स्थापित रहे।

सत्पुरुषोंने सद्गुरुकी जिस भक्तिका निरूपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्यके कल्याण के लिये कही है। जिस भक्ति को प्राप्त होनेसे सद्गुरुके आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद मिटे, और सहजमें आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो।
 (श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-४९३)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२८०, वर्ष-२४, अप्रैल-२०२१

आषाढ कृष्ण ६, शनिवार, दि. ९-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८२ प्रवचन-३०

८३, 'रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है।' लो, यह उत्तम तीर्थ! सम्मेदशिखर और शत्रुंजय और गिरनार, वह तो शुभभाव है, अशुभ से बचने को वह शुभभाव आता है, तब उन्हें निमित्त से तीर्थ कहा जाता है। उत्तम तीर्थ तो अपने भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है।

रयणत्तय-संजुत जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु।।

॥८३॥

ओ...हो...! योगीन्द्रदेव! छठी शताब्दी में हुए हैं। मैंने कल देखा था, तेरह सौ वर्ष पहले हो गये हैं। योगीन्द्रदेव दिगम्बर सन्त-मुनि-वनवासी निर्ग्रन्थपद में रहनेवाले, महादिगम्बर, एक वस्त्र का धागा नहीं, पात्र का टुकड़ा नहीं। एक जल का कमण्डल और एक मोर पिच्छी, कोई पुस्तक ज्ञान का उपकरण हो तो हो, न हो तो न हो। बस! ऐसे मुनि लगभग तेरह सौ वर्ष पहले (हो गये हैं)। वे कहते हैं, देखो! समझ में आया? जैसे सिंह जंगल में दहाड़ मारता आवे, दहाड़ मारता आवे तो सारे हिरण फट... फट... फट... भगते हैं।

इसी प्रकार दहाड़ मारते हुए कहते हैं कि उत्तम तीर्थ प्रभु आत्मा है। बाहर के सब तीर्थ व्यवहार और पुण्यबन्ध के कारण हैं। यहाँ तो (अज्ञानी कहता है) 'एक

बार वन्दे जो कोई नरक पशुगति न होई', यह आता है न? भाई! यह 'सम्मेदशिखर' (के लिए कहते हैं), तो क्या है सम्मेदशिखर? एक बार क्या, लाख-करोड़ बार वहाँ जा न! वह तो शुभभाव है, पुण्यभाव है, बन्धभाव है। कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा... समझ में आया?

'कर्म बन्ध से छूटने का उपाय अथवा भवसागर से पार होने का उपाय रत्नत्रय धर्म है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।' वही तीर्थ है, उत्तम तीर्थ वह है। पवित्र तीर्थ है, पवित्र तीर्थ। 'निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है...' अपना शुद्ध स्वरूप, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता निर्विकल्प आनन्दसहित (होना), वह निश्चय साक्षात् मोक्षमार्ग है। वही 'उपादानकारण है।' स्वयं का कारण है। 'व्यवहाररत्नत्रय उपादान के प्रकाश के लिए बाह्य निमित्त है।' व्यवहाररत्नत्रय बाह्य निमित्त है। बाह्य निमित्त है। बाह्य निमित्त है ऐसा कहा है। 'प्रकाश के लिए' हमने निकाल दिया। फिर बहुत लम्बी बात है। उपादान अपने शुद्धस्वभाव से प्रगट होता है - ऐसा बताना है। व्यवहाररत्नत्रय तो एक निमित्त मात्र है।

मिट्टी स्वयं घटरूप हो जाती है, कुम्हार का चाक इत्यादि निमित्त है। कार्यरूप स्वयं

उपादानकारण हो जाता है।' समझ में आया? 'आत्मा अपनी शुद्धि अथवा उन्नति में स्वयं ही उपादानकारण है।' उपादान दो प्रकार का है - अशुद्ध उपादान (और शुद्ध उपादान)। यह शुद्ध उपादान की बात चलती है। अशुद्ध उपादान का अर्थ यह कि आत्मा अपनी पर्याय में राग-द्वेष-विकार करता है, वह अशुद्ध उपादान है और विकार नहीं, आत्मा अकेला शुद्ध परमानन्द है, वह शुद्ध उपादान है। शुद्ध उपादान में दो प्रकार हैं - ध्रुव उपादान, एक क्षणिक उपादान। ध्रुव उपादान शुद्ध त्रिकाल है और उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वह क्षणिक शुद्ध उपादान है। वह (एक) समय का है। समझ में आया?



'स्वयं ज्ञान चेतनामय है, परम निराकुल है।' भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानचेतनामय है। ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... अर्थात् ज्ञानस्वभाव। ज्ञानस्वभाव वह आत्मस्वभाव। चैतन्यमय, उसका वेदन वह चैतन्यमय वेदन है। अपना शुद्ध चेतनमय वेदन है। पुण्य -पाप रागादि का वेदन वह तो आकुलता का वेदन है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप का वेदन वह ज्ञानचेतना है। 'परम निराकुल है। वही परमात्मादेव है...' 'वही परमात्मादेव है - ऐसा दृढ श्रद्धान, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।'

'उसकी प्राप्ति का उपाय अंतरंग निमित्त अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का उपशम है...' बाहर का निमित्त बताते हैं। 'बाह्य उपाय देव-गुरु-शास्त्र का श्रद्धान और जीवादि सात तत्त्वों का पक्का श्रद्धान...' वह निमित्त है। 'तथा स्व-पर का भेद-विज्ञानपूर्वक का विचार है, मन-वचन-काया की सर्व क्रिया निमित्त है। अन्तरंग और

बहिरंग निमित्त मिलने से निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा की ही भूमिका में से उत्पन्न होता है।' वह निश्चय आत्मा का सम्यग्दर्शन आत्मा की भूमिका में आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है, वह राग की भूमिका में उत्पन्न नहीं होता। भगवान आत्मा स्वयं परमेश्वर अपनी भूमिका में निश्चयसम्यग्दर्शन अन्दर से प्रगट करता है। पर की सत्ता में क्या है? अपनी सत्ता में (स्वयं) प्रगट करता है। समझ में आया?

'आत्मा ही उपादान कारण है। आत्मा का

आत्मारूप यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आगम द्वारा तत्त्वों का व द्रव्यों का मनन व्यवहार सम्यग्ज्ञान निमित्त है। आत्मा के अभ्यास से व गुरु के उपदेश के निमित्त से भीतर उपादान आत्मा से ज्ञान का प्रकाश होता है। अंतरंग निमित्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।' निमित्त से बात (की) है। ठीक!

'आत्मा के भीतर आत्मा द्वारा ही पर के अवलम्बन से रहित भ्रमण करना, वह निश्चयसम्यक्चारित्र है।' लो, यह चारित्र! 'आत्मा में आत्मा के भीतर आत्मा द्वारा...' निर्विकल्प द्वारा, 'पर के अवलम्बनरहित...' व्यवहार के अवलम्बन रहित स्वरूप में रमणता करना, वह निश्चयसम्यक्चारित्र है। वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्तम तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मलिनता का नाश होता है। आहा...हा...! समझ में आया? 'आत्मानुभव ही तीर्थ है...' वह आत्मानुभव तीर्थ है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अनुभव और वह तीर्थ!

उत्तर : वह आत्मानुभव हुआ न! अनुभव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह तीर्थ है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : जीव तीर्थ है न!

उत्तर : वह जीव तीर्थ बाद में, अभी तो मूल तीर्थ यह है, वह तीर्थ तो अनादि है, वह तीर्थ तो अनादि है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करे तब उस अनादि तीर्थ की श्रद्धा हुई। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्तम तीर्थ है - ऐसे तीर्थ का पिण्ड प्रभु द्रव्य, वह तो त्रिकाल तीर्थ है परन्तु उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट किए, वह उत्तम तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मलिनता का नाश होता है। उस तीर्थ की यात्रा करने से बन्ध का नाश होता है। कहो, समझ में आया? बाहर के तीर्थ में तो शुभभाव का बन्ध होता है। चाहे तो सम्पेदशिखर की यात्रा हो और चाहे तो गिरनार की हो; शुभभाव है, पुण्य बंधता है, पुण्य बंधेगा; संवर-निर्जरा नहीं (होंगे)।

मुमुक्षु : शाश्वत तीर्थ है।

उत्तर : चाहे जो हो, आत्मा शाश्वत तीर्थ है।

‘जहाज है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीन आत्मिक धर्मों से रचित है।’ लो, यह तीन धर्म से रचित तीर्थ है। ‘इस जहाज पर जो आत्मा आप ही चढ़कर उस जहाज को अपने ही आत्मारूपी समुद्र पर चलाता है, वह आप ही मोक्षद्वीप को पहुँच जाता है, वह द्वीप भी आप ही है। अपना पूर्ण भाव कार्य है, अपूर्णभाव कारण है। इस तरह जो कोई निश्चित होकर आत्मा का सतत् अनुभव करता है, वही परमानन्द का स्वाद पाता हुआ व कर्मों का संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ उन्नति करता जाता है, यही कर्तव्य है।’

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-२१४ पर भाववाही
प्रवचन, दि. १२-४-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-८९ (विषय : मार्गदर्शन)

‘अभिप्राय’-यह तो जीवका जीवन हो जाता
है—उसका घर बन जाता है। अभिप्राय-परिवर्तन
तो उसे जीवन-परिवर्तन सा लगता है। २१४.

परमागमसार, पृष्ठ-४६, २१४ नंबरका वचनामृत है। वचनामृतका विषय है—अभिप्राय सम्बन्धित। जीव कोई न कोई अभिप्राय रखकर बैठा है। और जो उसका अभिप्राय है, उस अभिप्राय आधारित बाकीका उसका परिणामन है। यद्यपि अभिप्रायमें अनेकविध विषयक अभिप्राय है। फिर भी यहाँ मूल विषय लेना चाहिये कि मूलमें स्व विषयक और पर विषयक अभिप्राय क्या है? जो कुछ गड़बड़ी है वह निज स्वरूपको अन्यथा प्रकारसे अभिप्रायमें रखनेसे है। जैसे कि मैं मनुष्य हूँ और मनुष्य सम्बन्धित फ़र्ज मुझे अदा करनी चाहिये।

अभिप्रायमें ऐसा होना चाहिये कि मैं एक आत्मा हूँ और आत्मोचित जो परिणाम है, आत्मोचित जो व्यवहार है उस अनुसार मेरा जीवन और परिणामन होना चाहिये। मनुष्योचित व्यवहार होना चाहिये और मानवधर्म समझना चाहिये, ऐसा कहनेपर सर्वसाधारणको बहुत अनुकूल पड़ता है कि यह बात अच्छी है। परन्तु वास्तवमें परमार्थके प्रकरणमें वह बात प्रतिकूल है, अनुकूल तो नहीं है अपितु प्रतिकूल है। भले ही उसमें सत्कार्य करनेका विषय चलता हो, तो मूलमें विपरीत अभिप्रायका घूटन करना पड़ता है कि मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं

मनुष्य हूँ। मैं आत्मा हूँ, उसके बदले मैं मनुष्य हूँ, यह चलता है। कहते हैं कि वह उसका जीवन है। अभिप्राय है वह उसका जीवन है। अभिप्राय अनुसार परिणामन होता होने से, ऐसा। परिणामके नियमको यह सिद्धांत, इस सिद्धांत अनुसार परिणाम नियमित हुए हैं, बँधे हुए हैं।

अभिप्राय अनुसार परिणाम होना यह सहज है। व्यक्तिविशेषमें वह समझ सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति सम्बन्धित जो अभिप्राय बाँधा हो, उस अनुसार उस व्यक्तिके प्रत्येक कार्यको गिना जाता है। फिर वह अभिप्राय झूठा हो तो उसका सब देखना झूठा है, सब अवलोकन झूठा है। अभिप्राय सच्चा हो तो उसका सब देखना अथवा अवलोकन करना वह सत्य है। इसप्रकार सत्य-असत्य है। अतः अभिप्राय मूलमें ठीक करना चाहिये ऐसा कहते हैं।

टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशकमें दृष्टांत दिया है कि चोर चोरी करता है तब, वह इतना तो जरूर विचार करता है कि यह चोरी करनी नहीं चाहिये और चोरी करूँगा और पकड़ा जाऊँगा तो राजा अथवा राजकी ओरसे मुझे दण्ड मिलेगा। परन्तु जब तक वह चोरी करनेका अभिप्राय नहीं बदलता, तब तक कदाचित् वह भयसे, राजके भयसे चोरी करना बन्द करे तो भी वह

कब चोरी करने लगेगा यह कहा नहीं जा सकता। उसे, चोरी करना जरूरी है, मुझे तो चोरी करना जरूरी है, ऐसा अभिप्राय जो निश्चित कर लिया है, मेरी आवश्यकता है, करनी ही चाहिये, उसमें राजका भय है, इस कारणसे अल्प समयके लिये वह बन्द रह सकता है। लेकिन उसे मौका मिलने पर वह उस प्रकारके परिणाम किये बिना नहीं रहेगा।

अभिप्रायका विषय है वह प्रवृत्तिसे विरुद्ध हो तो भी प्रवृत्तिको नहीं देखते हुए अभिप्रायको देखना चाहिये। लौकिक व्यवहारमें भी विचक्षण पुरुष पहले यह नापते हैं कि वह क्या कहता है? क्या बोलता है? कैसे वर्तता है ऐसा मत देखो। उसका अन्दरमें अभिप्राय क्या पड़ा है, वह देख लो, फिर कोई दिक्कत नहीं है। अभिप्रायको जाँच लेना पड़ता है। फिर उसका झुकाव अनुकूल-प्रतिकूल है उस परसे सच्चा नाप निकलता है। अन्यथा उल्टे रास्ते पर जाना हो, यह स्वाभाविक है उसमें।

अतः सम्यक् अभिप्राय हो, ऐसा। स्वयंके स्वरूप सम्बन्धि स्वयंका सत्य अभिप्राय हो तो उस प्रकारसे उसका जीवन होता है और वह अभिप्राय उसका घर हो जाता है, इसलिये उसमें मूलमें से परिणमन (बदलता है)। ऊपर-ऊपरका नहीं, अभिप्रायपूर्वकका परिणमन है वह मूलमें से बदलता है। अभिप्राय रहित परिणमन है वह ऊपर-ऊपरसे बदलता है। ऊपर-ऊपरसे जो परिणमन चलता है उससे जैसा चाहिये वैसा कोई फल नहीं आता। उसकी कोई शक्ति नहीं होती, ऊपर-ऊपरके कार्यकी कोई शक्ति नहीं होती।

‘अभिप्राय-परिवर्तन तो उसे जीवन-परिवर्तन सा लगता है।’ उसे विपरीत अभिप्राय जो अनादिका है उसे बदलनेमें बहुत शक्तिकी जरूरत पड़ती है। अभिप्राय बदलनेमें बहुत मंथन चलता है। स्वयंने जो कुछ ग्रहण कर रखा है, विचार लिया है, मान रखा है, उस पूर्वक उसका जो अभिप्राय बन गया है उसमें फेरफार करनेमें,

उससे विरुद्ध जानेमें उसे तकलीफ होती है। पूरा जीवन बदलना हो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है।

अथवा जिस जीवका अभिप्राय बदलता है, वह उसे बहुत मंथनपूर्वक वास्तविकपने अभिप्राय बदलता है। आपने कहा इसलिये मैंने मान लिया और आगे ऐसा मानेंगे, इस तरह वह अभिप्राय जल्दी बदलता नहीं। उसमें पूरा जीवन यानि उसके बादका पूरा परिणमन बदलने जैसा है और वह बदल जाता है। यदि अभिप्राय बदले तो जीवन बदलता है। परन्तु जैसे जीवन बदलना वह इतना आसान नहीं है वैसे अभिप्राय बदलना इतना आसान नहीं है। एक सामान्य कार्यपद्धतिका ढांचा बदलना हो तो मनुष्य ढांचेमें से बाहर नहीं निकल सकता, यह तो देखते हैं कि नहीं? आप ऐसे काम करते हो, यही काम हमलोग इस तरह करते हैं। इस पद्धतिसे यह पद्धति ज्यादा अच्छी है। तो कहेगा कि आपको जमती है, लेकिन हमको नहीं जमती।

मुमुक्षु :—

पूज्य भाईश्री :— अभिप्रायमें तो क्या है कि आदमीको जो मध्यस्थता आयी है उसमें पकड़ नहीं होती। मध्यस्थतामें उसने उतना ही लक्ष रखा है कि जो योग्य है, जो अच्छा है, योग्य है, सत्य है उतना ही ग्रहण करना है। जो अयोग्य हो, असत्य हो उसे छोड़नेमें मुझे कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिये, मुझे उसमें अल्प भी खिंचाव नहीं होना चाहिये। यह सब विचार लेना चाहिये। इसप्रकार उसे, क्या करना है और क्या नहीं करना है, उसका उसे मूलमें अभिप्राय तैयार कर लेना चाहिये। फिर जहाँ भी फेरफार करनेका प्रसंग आवे वहाँ पकड़ नहीं आयेगी, जिद नहीं होगी, हठ नहीं होगी, परन्तु सीधी सरलता होगी कि ठीक है, यह बात योग्य है ऐसा करो, यह बात योग्य लगती है तो बराबर है, ऐसा करो। अन्यथा उसे पकड़ आती है कि नहीं, ऐसा नहीं और ऐसा करना चाहिये। बहुत फर्क नहीं पड़ता है इसलिये

भी मैं कहता हूँ ऐसा होना चाहिये। आपकी बात थोड़ी ठीक होगी, परन्तु मैं कहता हूँ उसमें कोई ज्यादा फ़र्क नहीं पड़ता है, इसलिये भी मैं कहता हूँ ऐसा करना चाहिये। इसप्रकार कुछ न कुछ, कुछ न कुछ असरलताके परिणाम हो ही जाते हैं। ऐसी एक परिस्थिति है।

मुमुक्षु :— कोई ऐसे प्रसंगमें जाना तो फिर कैसे करना ?

पूज्य भाईश्री :— उसमें क्या है कि पूर्वकर्म अनुसार जो-जो प्रकारके उदय हैं वह उपस्थित हुए बिना नहीं रहते। पूर्वकर्म अनुसार जो-जो प्रकारके उदय है वह उसके हाथकी बाजी नहीं है। बाहरमें क्या संयोग-वियोग होना, किस प्रकारके उदयमान प्रसंग होना, वह तो कोई जीवके अधिकारकी बात नहीं है। अब उसे विवेक इतना ही करना है कि इसमें योग्य क्या है? और अयोग्य क्या है? सत्य क्या है? और असत्य क्या है? बस, इस एक जगह... उसे निर्दोष होना है न? आखिरमें तो स्वयंको निर्दोष होना है तो उसका पूरा झुकाव निर्दोषता प्रति होना चाहिये न? फिर कोई तकलीफ नहीं है। फिर सरलता भी आयेगी, फिर असरलता नहीं रहेगी।

दूसरा क्या है कि आत्माको, परिणाममें जो प्रयोजन है शुद्धिका, उस शुद्धिके साथ कितना सम्बन्ध है यानि की वह, प्रयोजनमें कितना स्पर्श करता है, बाह्य प्रसंगका प्रयोजनके साथ कितना लेना-देना है, उसका नाप उसे यथार्थ लक्षमें रहता है। अतः उस परसे वह उसकी कीमत रखता है और उस परसे वह आगे-पीछे करता है, जो एडजस्टमेंट करना होता है वह इस मूल कीमतको पकड़कर बात है। इसलिये फिर कहीं भी उसे तकलीफ नहीं होती है।

यहाँ क्या है कि धर्मका विषय है और धार्मिक रीतिसे भी इस जीवने धार्मिक विषयमें अनेक प्रकारसे पूर्वमें अभिप्राय बाँधा हुआ है। बिल्कुल कोरी पाटी कोई नहीं है। जिस किसी भी संप्रदायमें मनुष्यका जन्म होता

है, उसका अर्थ ही यह है कि उस संप्रदायको अनुमोदन देने जैसे परिणाम उसने किये हैं। मानों कि वैष्णवमें जन्म हुआ, हम स्वयंका दृष्टांत ले तो, वर्तमानमें जो धर्म चल रहा है वह ठीक है, बराबर है, योग्य है, करने जैसा है ऐसा परिणाम किये बिना वह कर्म बँधे और उसका फल आया हो ऐसा नहीं बनता।

वर्तमान स्थिति पूर्वकी भूलको प्रसिद्ध करती है, जाहिर करती है। जो वर्तमान फल है, जो कुछ बनता है वह पूर्वमें किस प्रकारसे भूल की थी, किस प्रकारका दोष किया था उसको वह साबित करता है, वह उसको जाहिर—प्रदर्शित करता है कि ऐसी भूल हुई थी, उसका यह परिणाम है। अब, उसका अभिप्राय तो वहाँ है ही। इतना बड़ा फल आया हो तो उसका अभिप्राय नहीं है ऐसा नहीं है। जब पूरा भव कोई एक संप्रदायमें जन्म धारण करनेका होता है तब उसका अभिप्राय तदनुसार नहीं है ऐसा तो नहीं है। अब, वह अभिप्राय पूरा बदलना हो और सम्यक् अभिप्राय करना हो तब पूरा जीवन बदलनेका जो कार्य है, उतना बड़ा कार्य करनेका उसको होता है और उसमें उसको बहुत मंथन चले तब जाकर उसका अभिप्राय बदलता है, तब तक उसका अभिप्राय बदलता नहीं।

अभिप्राय, वह विचार एवं मंथनके साथ सम्बन्धित एक निश्चित किया हुआ निर्णयका प्रकार है और उस निर्णयको और मान्यताको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसा अभिप्राय है ऐसा उसका मानना है, ऐसा उसका मत है। वास्तवमें तो ऐसा है। अतः ज्ञान और श्रद्धामें इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। मुख्य प्रवृत्ति ज्ञान द्वारा होती है और फेरफार भी ज्ञान द्वारा होता है। इसलिये जिसको श्रद्धा बदलनी है, जिसको श्रद्धाका फेरफार करना है, उसको अभिप्रायपूर्वक श्रद्धा बदलेगी। उसका जीवन परिवर्तन करना है वह तो अभिप्राय बदलेगा तो ही बदलेगा, अन्यथा जीवन बदलेगा नहीं।

इसप्रकार यह बहुत मुद्देका विषय है। अभिप्रायका विषय, मुद्दाका विषय है। और यह जाँचना चाहिये कि अभिप्रायमें फ़र्क पड़ा है कि नहीं? स्वयंका और परका बराबर निर्णय करनेके लिये अभिप्रायको लक्षमें लेना चाहिये कि अभिप्रायमें क्या है? तद्अनुसार कार्य होनेवाला है। अन्य प्रकारसे उसका कोई कार्य नहीं होगा।

मुमुक्षु :— अभिप्राय तो अनुकूलता प्राप्त हो और प्रतिकूलता न हो.. ऐसा है।

पूज्य भाईश्री :— हाँ, वह तो अभिप्रायमें, अनुकूलता प्राप्त होओ, फिर वह अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये चाहे जो करना पड़े, यह परिस्थिति आकर खड़ी रहेगी। अभिप्रायमें यह पड़ा है कि मुझे सर्व प्रकारसे अनुकूलता रहो। वह सर्व प्रकारसे अनुकूलता रहो, वह अनुकूलता करनेके लिये वह क्या-क्या नहीं करेगा? सब करेगा। परन्तु वह अनुकूलता है, वह अनुकूलता है या नहीं, यह विचार करने जैसा है।

भगवान ऐसा कहते हैं कि कोई पदार्थ तुझे अनुकूल नहीं है, कोई पदार्थकी कोई पर्याय तुझे प्रतिकूल नहीं है। फिर भी कुछ एक पदार्थके प्रति तू अनुकूलताका आरोप करता है और कुछ एक पदार्थके प्रति कभी तू प्रतिकूलताका आरोप करता है। वह तेरी कल्पनामात्र है और वह कल्पना है या वास्तविकता है? ये तू जाँच ले। तुझे इतनी जाँच करनी है कि वह कल्पना है कि उसमें कोई वास्तविकता है? जाँच करने पर यदि तुझे ऐसा लगे कि कहनेवालेकी बात सत्य है और मेरा अभिप्राय अनादिसे था वह झूठा था, असत्य था। तो उसे जब-जब वह इष्ट-अनिष्टपना हो, परपदार्थके संयोग-वियोगके कालमें इष्ट-अनिष्टपना हो, हर्ष-शोक हो, तब उसका यदि अभिप्राय बदला होगा तो उसका ज्ञान हाजिर होगा कि यह परिणमन मेरे अभिप्रायसे विरुद्ध चलता है, वह परिणमन चलना नहीं चाहिये, उस प्रकारसे चलना चाहिये नहीं। अन्यथा अभिप्राय बदले बिना, भले ही सब शास्त्रकी धारणा हो

गयी हो, लेकिन पुराना अभिप्राय जो है वह वैसा ही चलता हो तो उदयमें इष्ट-अनिष्ट, राग-द्वेष, हर्ष-शोकके परिणाम तन्मयतासे, पूर्णतया डूबकर करेगा, उसे ख्याल रहता नहीं और फिर विचार करे तब जो विचार करे वह शास्त्र अनुसार करे कि परपदार्थ है वह भिन्न है, उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता जैसा कुछ नहीं है, आत्मा ज्ञायक है, वह तो जाननेवाला तत्त्व है। अभिप्राय बदले नहीं तब तक वह परिणाम कोई कार्यकारी होता नहीं। मूलमें अभिप्राय बदल जाना चाहिये। ये सब तो सूत्र जैसी बातें हैं। छोटा वचन है लेकिन सूत्र जैसी बात है।

परिणामको कभीकभार देखता है कि यह परिणाम ऐसा हुआ, यह परिणाम वैसा हुआ, यह परिणाम ऐसा हुआ। ऐसा नहीं, वह परिणाम होनेके पीछे इस जीवका अभिप्राय क्या था? यह बात उसको पुनः पुनः विचारकर, मंथन करके विपरीत अभिप्रायको उसे तोड़ देना चाहिये। विपरीत अभिप्रायको उसे बदलना चाहिये और वह बहुत मंथनके बाद बदलना होता है। पूरा श्रद्धानका बदलना, वह इस अभिप्रायके बदलनेसे होता है। अतः पूर्वकी श्रद्धा तोड़नेका भी उसमें कार्य होता है। और जब पूर्वकी श्रद्धा तोड़नेका कार्य उसे होता है, तब उसे जो विपरीत बल दिया था, वह बल भी टूटता है। विपरीत दिशामें बल जाता है वह भी उससे टूटता है। उसमें थोड़ा उसे ऐसा लगता है कि यह कठिन है, इसमें मेहनत पड़ती है, इसमें अन्दरमें परिश्रम करना पड़ता है ऐसा लगे। परन्तु भले ही वह परिश्रम और मेहनत पड़े, उसे दर्शनपरिषह कहा है, शास्त्रमें उसे दर्शनपरिषह कहा है। अन्दरमें श्रद्धा बदलना उसे कठिन लगे तो भले ही कठिन लगे, परन्तु उसे निज आत्माको तारना है तो उसे बराबर दृढ़ संकल्पसे उस कार्यमें आगे बढ़ना चाहिये।

यह जो विचार है न, प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागम सम्बन्धित? एक विचार यह आया था कि, सामान्यतः जीवकी अनादिसे विपरीत अभिप्रायपूर्वक कार्य करती

हुई जो बुद्धि है वह बुद्धि, अत्यंत जिज्ञासामें एवं अत्यंत आत्महितकी लगनीमें अल्प मध्यस्थता धारण करती है। वह उसके अंतरंग परिणामका विषय हुआ। बाहरमें कोई सत्पुरुषका योग हो और उनके प्रति उसे अहोभाव हो कि अरे..! ये कुछ कहेंगे और उसमेंसे मुझे कुछ ग्रहण होगा, वे जो कहना चाहते हैं, वह मैं ग्रहण करूँगा तो ही मेरा हित होनेका एक असाधारण प्रसंग है, वहाँ भी वह प्रकार बनता है। जो ज्ञानका बुद्धिका विपर्यास है वह मंद होना, उसका यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। इसीलिये सत्पुरुषके समागमकी विशेष-विशेष महिमा मुमुक्षुको दर्शायी गयी है शास्त्रमें। यह एक प्रकार है।

यहाँ सहज ही ऐसा बनता है। यहाँ उस प्रकारकी लगन लगनी और उस प्रकारकी अपूर्व जिज्ञासा होनी उसकी अपेक्षा यह अधिक सरल प्रकार है। ऐसा गिनकर भी मुमुक्षुको वहाँ मार्गदर्शन दिया जाता है कि तू सत्समागम कर, तू सत्समागम कर। यह भी एक प्रकार है। क्योंकि अनादिका विपर्यास है, जो ज्ञानका विपर्यास वस्तुकी अन्यथा धारणा करता है, अन्यथा कल्पना कर लेता है।

परिस्थिति थोड़ी ऐसी है। एक मनुष्यको ऐसा कहा कि, बिल्कुल एक दरिद्र मनुष्य हो वह, जल्दी करोड़पति कैसे बने? अँगूली फटकर खँभा कैसे होगा? ऐसा कहते हैं कि नहीं? लौकिकमें ऐसा कहते हैं कि बिल्कुल निराधार मनुष्य है, उसे कोई आधार नहीं है, उसे इतनी दरिद्रता है वह कैसे करोड़पति होगा? तो कहते हैं कि वह प्रथम परिश्रम करके दस-बीस हजार कमाये, फिर उसे करोड़ रूपया प्राप्त करनेका साहस करना हो तो उसे कुछ ठीक पड़ता है, उसे कुछ आधार मिलता है। जिसके पास कुछ नहीं है वह मनुष्य कैसे बड़ा साहस करेगा? यह प्रैक्टिकल साईड है। जो अल्प शक्ति आयी, वह दस-बीस हजार रूपया कमाया, उसके बाद वह त्वरासे

दौड़ता है।

वैसे यहाँ, जीव अनादिसे विपरीत चलता है। रागकी एकत्वबुद्धि और शरीरकी-देहकी एकत्वबुद्धि इतनी पड़ी है और उसका ज्ञान जिस-जिस ज्ञेयोंमें जाता है उसमें विपरीतता धारण करता है, इष्ट-अनिष्टपनाकी कल्पना करता है, जानते ही ठीक है कि अठीक है, ठीक है कि अठीक है ऐसा हो जाता है, तब उसे तत्त्वके विषयमें प्रवेश करनेमें वह अयथार्थ धारण नहीं करेगा, अन्यथा कल्पना नहीं करेगा, और जैसा पदार्थ कहना चाहते हैं ऐसा ही कहनेवालेका आशय पकड़कर बराबर यथार्थ समझ करेगा ऐसी उसकी स्थिति कब आये? या तो वह कोई सत्पुरुषकी शरणमें रहे या तो वह कोई अपूर्व जिज्ञासासे इस विषयको समझनेकी पूर्ण लगनसे समझनेको तैयार हो तब। तब अनादिकालीन ज्ञानके विपर्यासमें थोड़ी न्यूनता होती है।

ज्ञानमें शक्ति बहुत है, ज्ञानमें इतनी शक्ति है कि दैनिक कार्योंमें उसका पृथकरण करे तो भी उसे ख्याल आता है कि मेरेमें बहुत शक्ति है। विपरीत अभिप्रायकी पकड़में से थोड़ा-सा हल्का हुआ, वह दब गया है, उसका दबाव थोड़ा कम हुआ, विपरीतताका दबाव कम होता है तो भी ज्ञान, निज हित समझनेमें, निज प्रयोजन समझनेमें ठीक-ठीक प्रकारमें अथवा पर्याप्त प्रकारमें समर्थ हो जाता है। पर्याप्त प्रकारसे उसे वहाँ समर्थता और योग्यता आती है, स्वयंका प्रयोजन पकड़नेमें। इसीलिये उस विषयको भी वहाँ महत्त्व दिया गया है। बहुत रहस्यमयी विषय है।

कहते हैं कि इस प्रकार अभिप्राय बदलना चाहिये और उस प्रकारसे जीवन बदलना चाहिये। २१४ पूरा हुआ।

अनुभव संजीवनी

पूज्य भाईश्रीके अगाध मंथनमें से प्रवाहित वचनामृत

अनन्त संसारका क्षय करनेवाला और अनन्त समाधि-सुखकी प्राप्ति करनेवाला, श्री तीर्थकरदेवसे प्रवाहित ऐसे सदोपदेशकी प्राप्ति हुई, समझ हुई तो अब उसको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि जीवनमें उतारनेका प्रयास नहीं हुआ तो उसका मुल्यांकन तो नहीं हुआ परन्तु उपेक्षा हुई, इससे परमोत्कृष्ट देशनाका अनादर हुआ, उपेक्षा हुई। मोहके कारण ऐसा अपराध होनेसे उस उपदेशकी धारणा अल्प कालमें नष्ट हो जायेगी। अतः परम गंभीरतापूर्वक जिसे उपदेशका योग हुआ है उसको तो अपूर्वभावसे अपूर्व पुरुषार्थ कर्तव्य है। बारबार ऐसी तक हाथ नहीं लगती। मोहके वश जीव प्रयत्न करना भूल जाता है। परन्तु यह प्रमाद (प्रयत्न चालू न होना) जीवके अविचारीपनेकी प्रसिद्धि है। अतः हे भव्य! जागृत हो, जागृत हो! (७१५)

जिस विषयमें हितबुद्धि होती है, उस विषयमें जीवको श्रद्धा उत्पन्न होती है। और जिस विषयमें श्रद्धा उक्त प्रकारसे सहज उत्पन्न हो जाती है, उस विषयमें परिणाम लीन हो जाते हैं। परन्तु जिस विषयमें हित / सुखका निर्णय नहीं हो वहाँसे रुचि हट जाती है और जहाँ रुचि नहीं हो, उस विषयमें रस नहीं आनेके कारण लीनता नहीं हो सकती - इस प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा और ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक चारित्र उत्पन्न होनेका विज्ञान है। तात्पर्य यह है कि आत्मामें सुख है, ऐसा निर्णय होना चाहिए, तो ही आत्मरुचि सहजरूपसे उत्पन्न होगी। और परमें सुख है ऐसा अनादिका निर्णय चला आ रहा है, वह यदि टले तो ही पररुचि मिटे। प्रयोजनके दृष्टिकोणसे देखा जाये तो 'सुख-वही आत्मा है' - इसलिए जहाँ सुखका निर्णय वहाँ स्व आत्माका निर्णय, और वहीं क्रमशः रुचि और लीनता होते हैं। अतः सर्व ज्ञानियोंका आदेश है कि 'हे जीव ! सुख आत्मामें है - यह मत भूल, भ्रांति छोड़ दे।' (७८१)

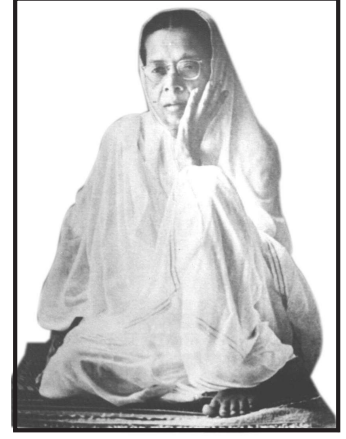
जिसको परम उत्कृष्ट ऐसे जिनदेवका केवल अंतर्मुखताका मार्ग श्रवण-प्राप्त भी नहीं हुआ है, वैसा हीनपुण्य जीव संसारके भयंकर दुःखोंसे मुक्त न हो सके, यह तो सहज है, परन्तु जिस जीवको परम सत्य लक्षमें आया है, वह क्षुद्र उदय प्रसंगों और साधारण विकल्पोंमें स्वयंके महान स्वरूपको रोक रखता है, वह प्रमादमें रति है। प्रमादमें रति करने जैसा कुछ है ही नहीं। अतः हे जीव! त्वरासे स्वयंके महान पदको सँभालकर अंतर्मुख हो! अंतर्मुख हो!

क्षुद्र विकल्पोंको सिद्ध करनेमें लगे रहना, यह आत्माको आवरणकर्ता है, अविवेक है।

संसारके प्रति तीव्र उदासीनतासे और सत्समागमसे प्राप्त विशुद्ध (निर्मल) मतिसे कुछ एक जीवको

(वचनामृतका शेष अंश पृष्ठ-१६ पर)

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. ९- A



मुमुक्षु :- ..किस प्रकारसे है, यह कृपा करके समझाईये।

समाधान :- गुरुदेवने बताया कि दर्शनशुद्धिसे आत्मसिद्धि होती है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेसे ही आत्मा की सिद्धि होती है। सम्यग्दर्शन बिना मुक्ति का मार्ग ही प्रगट होता नहीं। सम्यग्दर्शन होनेसे ही आत्मा की सिद्धि (होती है)। सम्यग्दर्शन बिना बाहर का सब करे, त्याग करे, पचखाण करे, सब करे, सच्चा चारित्र भी बिना सम्यग्दर्शन नहीं है। त्याग ले ले और माने कि मैंने चारित्र लिया, चारित्र भी यथार्थ नहीं होता, ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही सब सम्यक् होता है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सब सम्यक् होता है। और यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट हो तो आत्मा की सिद्धि होती है। लेकिन वह सब सम्यग्दर्शन होनेसे ही होता है। दर्शनशुद्धिसे दर्शन की शुद्धि हो, दर्शन की निर्मलता प्रगट हो तो आत्मा की सिद्धि प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन के बिना सब अंक शून्य है, ऐसा गुरुदेव कहते हैं। अंक नहीं है और मात्र शून्य करे, सब शून्यरूप ही रहते हैं। चाहे जो भी करे, गृहस्थाश्रमसे वैराग्य आये, त्याग करे, गृहस्थाश्रम छोड़कर वन में जाय, सब करे। उसे ऐसा लगे बाहरसे मानो मैंने कितना कर लिया, लेकिन वह सब शून्य होता है। एक सम्यग्दर्शन का अंक आये तो सब होता है। एक आये तो उसपर सब अंक चढते हैं, नहीं तो सब शून्य जैसा है।

अनन्त काल में उसे बहुत बार वैराग्य आता है। लेकिन वह वैराग्य मात्र यह सब असार है, ये सब अनित्य है, लेकिन नित्य वस्तु कौन है? उस वस्तु को पहचाने बिना सब त्याग करता है। नित्य स्वरूप ज्ञायक आत्मा को पहचानता नहीं। इसलिये शून्य की भाँति सब करे। मुनि हो जाये, कितना पढ़े, सब करे, ग्यारह अंग तक का उसे ज्ञान हो जाये, व्रत, पचखाण कितने कड़क करे, अभिग्रह धारण करे, सब निर्दोष आहार-पानी ले, सब करे लेकिन यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो सम्यग्दर्शन के बिना भव का अभाव होता नहीं। पुण्य बाँधे, प्रैवेयक जाये। मुनिव्रत धार अनंत बैर प्रैवेयक उपजायो, लेकिन सम्यग्दर्शन बिना एक भव उसका कम नहीं हुआ। सम्यग्दर्शनसे ही आत्मा की सिद्धि होती है।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन यानी अपने स्वरूप का दर्शन?

समाधान :- सम्यग्दर्शन यानी स्वरूप का दर्शन, स्वरूप जैसा है वैसी श्रद्धा। स्वरूप का दर्शन, स्वरूप की स्वानुभूति, स्वरूप जैसा है वैसा बराबर ग्रहण करना। स्वरूप का दर्शन होता है। अनन्त कालसे स्वरूप को पहचानता नहीं है, तो स्वरूप का दर्शन होता है, स्वानुभूति प्रगट होती है।

मुमुक्षु :- इससे पहले की सीढ़ी आप कहोगे कि तत्त्व का निर्णय। .. वचनमृत में आया है कि विकल्प में तत्त्व के विचार करता रहे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। वहाँ-से आगे बढ़ा नहीं जाता। विकल्प में तत्त्व के विचार चलते रहते हैं, लेकिन तत्त्व के निर्णय पर्यंत पहुँचा नहीं जाता। आपने बहुत कहा कि बारंबार भेदज्ञान का अभ्यास करते रहना चाहिये। लेकिन वह होता नहीं। विकल्प में तत्त्व के विचार चलते रहते हैं। अब कृपा करके कुछ समझाईए कि जिससे तत्त्व के निर्णय पर्यंत पहुँचा जाय और कुछ काम बने।

समाधान :- पहले तत्त्व का निर्णय करना। लेकिन निर्णय यथार्थ करे कि बस, यही है, दूसरा कुछ नहीं है। यह आत्मा है, यह ज्ञायक सो मैं हूँ, यह परपदार्थ मैं नहीं, ये विभाव की पर्यायों मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसी श्रद्धा पहले यथार्थ करे। तत्त्व का विचार करे, निर्णय करे फिर उसे शंका नहीं पड़ती। ऐसा निःशंक हो जाये कि बस, यह ज्ञायक है वही मैं हूँ। उसमें निःशंकता का जोर आये तो उसकी श्रद्धा के बलसे आगे जाये और स्वानुभूति हो। जहाँ श्रद्धा का बल जोरदार नहीं है तबतक आगे नहीं बढ़ नहीं सकता। श्रद्धा का बल उसे जोरदार आना चाहिये।

मुमुक्षु :- माताजी! आपसे यह जानना है कि विकल्प में तत्त्व के विचार तो बहुत चलते रहते हैं, लेकिन तत्त्व निर्णय तक पहुँच नहीं सकते। तत्त्व निर्णय विकल्पात्मक तो उसे कहें कि विकल्प आये कि परद्रव्य शरीरादि की क्रियाएँ हो उसमें मैं ज्ञायक ही हूँ, ऐसा विकल्पपूर्वक भी टिका रहना चाहिये वह टिक नहीं पाता। उसके कारणभूत आप जो भेदज्ञान कहते हो कि निरंतर भेदज्ञान करता रहे, वह चलता नहीं। ज्यादासे ज्यादा तो जब दो-तीन घण्टे या चार घण्टे स्वाध्याय में बैठे हो उस वक्त यह विचार चलते हैं, उसके बाद की जो परिस्थिति बनती है उसमें तो ऐसा ही लगता है कि विकल्प में तत्त्वविचार के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता। अब यहाँ कहाँ अटकना होता है? और क्या करना चाहिये?

समाधान :- स्वयं के पुरुषार्थ की मंदतासे आगे बढ़ नहीं सकता, अनादि का अभ्यास है। तत्त्व के विचार करता रहे, लेकिन मैं ज्ञायक हूँ उसे ग्रहण करके, यह ज्ञायक है वही मैं हूँ, उस ज्ञायक की श्रद्धा को जो कार्य में रखनी चाहिये, भेदज्ञान के कार्य में ज्ञायक को ग्रहण करके, दूसरे भाव आते हैं वह मैं नहीं हूँ, लेकिन वह किये बिना छूटकारा नहीं है, वह हो या नहीं हो, लेकिन वह किये बिना छूटकारा नहीं है। श्रद्धा के बलसे मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास अंतरसे, बोलनेमात्र नहीं, अंतरसे उसे किये बिना छूटकारा नहीं है। द्रव्यदृष्टि के जोरसे भेदविज्ञान के अभ्यास का जोर है वह आगे बढ़ सकता है। तत्त्व के निर्णय के बाद भी श्रद्धा का बल जोरदार रखकर भेदज्ञान का अभ्यास किये बिना आगे बढ़ नहीं सकता।

मुमुक्षु :- माताजी! विकल्प में तत्त्व के विचार में स्व और पर का स्वरूप अस्तित्व भाव में बराबर बैठता है। जो भिन्न है वह भिन्न ही है, उसका कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं हो सकता। फिर भी ऐसे-ऐसे राग उदयमें आते रहते हैं कि उस रागसे भेदज्ञान करना चाहिये वह उपाय है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ और ये रागादि परद्रव्य की क्रिया मुझसे भिन्न है, लेकिन जब वह राग आता है तब उसमें एकता हो जाती है कि मानों राग मुझे हो गया, ऐसा राग क्यों आता है, ऐसे भाव क्यों आते हैं, ऐसा होता है। लेकिन जो बल आना चाहिये कि इस वक्त भी मैं ज्ञायक हूँ। या तो शुष्कता जैसा लगता है और जो भावरूप आना चाहिये कि अंतर में परिणमन की ओर जा सके उसका उकेल नहीं आता। तो आप कुछ कृपा करें, कुछ समझाईये कि ये क्या होता है?

समाधान :- वह किये बिना छूटकारा नहीं है, नहीं हो तबतक अंतर में हृदय को भीगोकर, अंतरसे खुद को उसप्रकार का वेदन आना चाहिये कि क्यों नहीं होता है? इसमें क्यों रुकना हो रहा है? अपना कारण खुद को ही पकड़ना है। अन्दरसे हृदय को भीगोकर आत्मा की महिमा लाकर तत्त्व के निर्णय को दृढ़ करके उसका पुरुषार्थ करके स्वयं को ही आगे जाना है। जो एकत्वबुद्धि हो रही है उसे तोड़कर ही छूटकारा है। दोनों आमनेसामने है। यहाँ एकत्वबुद्धि और यहाँ भिन्न होना है। ज्ञायक निराला है, उस निराले को निरालारूप परिणमन में लाना है तो वह किये बिना छूटकारा नहीं है। यह एक ही उपाय है। द्रव्य पर दृष्टि के जोरसे भेदज्ञान का अभ्यास (करना), इसके बिना दूसरा कोई उपाय

नहीं है और अंतर में अपने हृदय को भीगोकर आगे बढ़ना, पुरुषार्थ करना यह एक ही उपाय है। बारंबार उस ओर जाना यह एक ही उपाय है। और वही है, दूसरा कोई उपाय नहीं है ऐसा निर्णय खुद को आना चाहिये और निर्णय के बलसे स्वयं ऐसा पुरुषार्थ करे तो होता है।

मुमुक्षु :- माताजी! निर्णय भी यही है कि इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसके सिवाय दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है, यह तो पक्का निर्णय है। और मात्र विकल्प यानि कि समझे बिना ही विकल्पों में विचार चलते हैं ऐसा भी नहीं है। स्वरूप लक्ष्य में आता है और लक्ष्यपूर्वक विचार (आते हैं), लेकिन विचारोंसे आगे निर्णय जो आप कहते हो वहाँ निर्णय टिकता नहीं। कोई ऐसा राग आ जाय तो ऐसा लगता है मानो उस रागरूप में हो गया, विकल्प में भी उससे भिन्नता नहीं होती। निर्विकल्प की तो बात ही कहाँ है, लेकिन विकल्प में जो भिन्नता होनी चाहिये कि यह ज्ञायक है वही मैं हूँ, यह विकल्प और परद्रव्य मुझसे भिन्न हैं, इतना ज़ोर आता नहीं, उतना बल आता नहीं, आप जो भी कहो, लेकिन वहीं (अटकना) होता है।

समाधान :- पुरुषार्थ किये बिना और लगनी लगाये बिना छूटकारा नहीं है। अनादि का अभ्यास है इसलिये वह पुरुषार्थ की मन्दता के कारण कहीं न कहीं तो रुकता ही है। लेकिन बारंबार उसका अभ्यास करे वही उपाय है। बारंबार, बारंबार उसका अभ्यास करता रहे तो होता है।

मुमुक्षु :- आप जो कहते हो वह बात सत्य है, कहीं न कहीं रुकता है, यह बात सत्य है। लेकिन..

समाधान :- जबतक नहीं हुआ है तबतक कहीं न कहीं तो अटकता ही है।

मुमुक्षु :- हाँ, यह हकीकत है। लेकिन जहाँ अटकता है उसका ख्याल भी आता है कि यहाँ अटकना हो रहा है। उस वक्त किसप्रकार उससे भिन्नता करनी, ज्ञानने ही कीमत दी है, लेकिन ज्ञान वहाँ-से छूटता नहीं। ऐसा भी अनुभव में आता है, ख्याल आता है।

समाधान :- ज्ञानसे निर्णय किया लेकिन हृदय अन्दरसे उतना भीगा हुआ होना चाहिये, खुद को अन्दरसे खटक लगे तो भिन्नता होती है, अंतरसे खटक लगनी चाहिये। उसकी महिमा आनी चाहिये, उसकी खटक लगनी चाहिये। यह स्वरूप है, यह दुःख है, अन्दर उसे वेदन में ऐसा लगना चाहिये, अन्दर खटक लगे तो भिन्नता होती है। निर्णय करके भी अन्दर खुद को खटक लगनी चाहिये तो भिन्नता होती है। मात्र विचार करते रहनेसे (नहीं होता)। अन्दरसे लगना चाहिये, तो भिन्नता होती है।

मुमुक्षु :- माताजी! जिसप्रकारसे लगना चाहिये उसप्रकारसे लगता भी है, दुःख भी लगता है। आप जिसप्रकारसे कहते हो उसप्रकारसे नहीं लगता, क्योंकि भिन्नता नहीं होती। दुःख नहीं लगता ऐसा भी नहीं है। जो कुछ होता है उसमें खेद भी होता है, दुःख भी लगता है, फिर भी हकीकत तो यही है।

समाधान :- अपने पुरुषार्थ की मन्दता है, दूसरा कोई कारण नहीं है। कहते हैं न? पारिणामिक द्रव्य अकारण उसमें अपने परिणामन की कमी है, अपने पुरुषार्थ की कमी है। अपनी मन्दता है, दूसरी कोई कमी नहीं।

मुमुक्षु :- मन्दतामें-से तीव्रता..

समाधान :- वह खुद ही करे, दूसरा कोई करे नहीं, खुद ही करे। अपनी लगनी ही मार्ग में आगे जाने में कारण बनती है। अपनी लगनी ही आगे (ले जाती है)। खुद वहाँ रुक नहीं सकता, अपनी लगनी ही आगे ले जाती है।

मुमुक्षु :- जबतक खुद को संतोष नहीं होता तबतक वैसा ही करता रहे?

समाधान :- संतोष नहीं हो तबतक.. द्रव्य पर दृष्टि, अपनी श्रद्धा जोरदार भेदविज्ञान, वही करना है। मार्ग तो एक ही है। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय चारों ओरसे समझे। चारों ओरसे शास्त्र के पहलू विचारता रहे और तत्त्व को विचारता रहे। अपने विचारसे, शास्त्र कहते हैं वैसा खुद अंतरसे विचार करके नक्की करे। लेकिन उसे कार्य में लाने के लिये तो खुद को श्रद्धा का बल लाना चाहिये कि मैं यह ज्ञायक हूँ और यह मैं नहीं। ऐसा जोर लाकर एक बार विचार किया कि मैं ज्ञायक हूँ और यह मैं नहीं। लेकिन उसे अंतर परिणति में कार्य में लाना चाहिये। उपाय तो एक ही है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुमुक्षु :- जबतक कार्य नहीं हो तबतक ऐसा ही करता रहे?

समाधान :- ऐसे ही करते रहो। जो भी सिद्ध हुए वे भेदविज्ञानसे हुए हैं। नहीं हुए वे भेदविज्ञान के अभावसे नहीं हुए। भेदज्ञान कब तक भाना? कि जबतक यह आत्मा भिन्न होकर स्वरूप में स्थिर नहीं हो जाये तबतक। उसके दो अर्थ किये हैं—जबतक सम्यग्दर्शन नहीं हो और स्वरूप में स्थिर नहीं हो जाये तबतक। और दूसरा (अर्थ यह है कि) जबतक केवलज्ञान नहीं हो तबतक अभ्यास करता रहे। एक ही उपाय है। शुरूआतसे सहज अभ्यास नहीं होता। पहले भेदविज्ञान सहज नहीं है, सहज अभ्यास नहीं है तो भी वही अभ्यास करे, सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले, और उसके बाद भी केवलज्ञान नहीं हो जाता तबतक द्रव्यदृष्टि का बल और भेदविज्ञान का बल अंत तक रहता है। केवलज्ञान नहीं हो तबतक एक ही उपाय है। उसके साथ सब होता है, अधूरी दशा है, पंच महाव्रत, अणुव्रत, देव-गुरु-शास्त्र की महिमा ऐसे शुभभाव, सम्यग्दर्शन के अंग इत्यादि सब साथ में होते हैं, लेकिन उपाय अंतर में एक सहजरूपसे सम्यग्दर्शन की सहज धारा चलती है। उसके पहले उसे अभ्यास होता है।

सम्यग्दृष्टि को सहज ज्ञाताधारा चलती है। उसे पुरुषार्थ है लेकिन सहज पुरुषार्थ है। उसे इतना मुश्किल नहीं है, उसने तो सहज मार्ग जान लिया है। जिज्ञासु को तो एक ही अभ्यास है कि जो मार्ग है उस मार्ग का अभ्यास पहले करना है। अभ्यास नहीं हो तबतक बारंबार करना। मार्ग तो एक ही है। भेदविज्ञान कबतक भाना? कि एक धारासे बीच में अखण्डरूपसे भाना। कब तक? आत्मा आत्मा में जबतक स्थिर नहीं हो जाता, ऐसा आता है। समयसार में आता है। धारावाहीरूपसे भाना ऐसा आता है।

मुमुक्षु :- माताजी! नियमसार में प्रतिक्रमण अधिकार में पहली पाँच गाथा है न? नारक नहीं, मानव नहीं.. फिर कहा कि भेदज्ञानना अभ्यासथी माध्यस्थ चारित्र बने, .. सम्यग्दर्शन होने के बाद भी भेदज्ञान की..

समाधान :- सम्यग्दर्शन होने के बाद भी भेदज्ञान (चलता है)। भेदविज्ञानथी माध्यस्थ थर्ड चारित्र.. चारित्र भी उसमें, सम्यग्दर्शन भी उसमें, केवलज्ञान तक उसमें, सब उसही में है। सम्यग्दर्शन के बलसे भेदज्ञान हुआ, चारित्र के बल में भी भेदज्ञान, सबजगह भेदज्ञान, एक ही मार्ग है—प्रारंभसे अंत तक मार्ग दूसरा नहीं है। सीधा और सरल है। लेकिन अनादि के अनभ्याससे कठिन हो गया है। एक ही मार्ग है, टेढामेढा मार्ग नहीं है, कहीं बाहर नहीं खोजना है, मार्ग अंतर में है। बाहर में तू इतना कर या बाहर के कुछ कार्य कर ले ऐसा कुछ नहीं, अंतर में करना है। एक ही मार्ग प्रारंभसे अंत तक। माध्यस्थ थर्ड.. वह गाथा हुई।

मुमुक्षु :- प्रत्याख्यान अधिकार में भी अंत में लिया कि इस भेद अभ्याससे ही प्रत्याख्यान है।

समाधान :- हाँ, भेद अभ्याससे ही प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान उसमें आता है, संवर उसमें आता है, सब उसमें आता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र सबमें वह आता है। अनादि की एकत्वबुद्धि है इसलिये उसे पहले सहज नहीं हो पाता,

इसलिये उसे दुर्लभ लगता है। विचार करे, सहज होता नहीं, विचार करे और छूट जाता है। क्योंकि सहज परिणति नहीं है और उपयोग में लाये इसलिये उपयोग बदलता रहता है, उपयोग छूट जाता है, बार-बार पलट जाता है। इसलिये उसे स्थिरता नहीं होती। और श्रद्धा का बल उतना टिकता नहीं और परिणति सहज हुई नहीं। इसलिये प्रथम भूमिका में उसे विकटता हो गई है।

मुमुक्षु :- उग्र पुरुषार्थ।

समाधान :- पुरुषार्थ की उग्रता हो तो होता है। जिसे होता है उसे अंतर्मुहूर्त में हो जाता है, नहीं हो उसे अभ्याससे होता है।

मुमुक्षु :- मार्ग तो माताजी! वास्तव में आपने सुगम कर दिया है, अति सुगम कर दिया है। जहाँ-जहाँ मार्ग के हिसाबसे तो आपको जितना देना चाहिये उतना तो सबकुछ आपने दे दिया है। लेकिन फिर भी बार-बार यह प्रश्न होता है कि प्राप्त होता नहीं। इसलिये फिरसे प्रश्न उत्पन्न होते रहते हैं।

समाधान :- अंतरसे पुरुषार्थ चलता नहीं इसलिये प्रश्न उत्पन्न होते रहते हैं।

(पूज्य भाईश्री शशीभाईके वचनामृत...)

केवल अंतर्मुख होनेका, वह मार्ग समझमें आता है, जो कि सर्व दुःखक्षयका उपाय है। जिसको समझमें आता है, वह निष्प्रमादरूपसे उसका अहर्निश आराधन करता है। (११०५)

वर्तमानमें सामान्य मुमुक्षुका इतना ध्यान जरूर जाता है कि यह मार्ग वाकई सत्य है और इसे प्राप्त करनेसे जीवका कल्याण (भी) हो जाये, परन्तु दूसरी तरफ मोहके बलवानपनेके कारण, मोहको टालनेमें हिम्मत नहीं चलती है। अतः संयोग ऊपरकी सावधानी छोड़नेमें - उपेक्षा करनेमें भय लगता है। जिसके कारण उदय प्रवृत्तिमें जीवन चला जाता है, और वह आवरणकर्ता बन जाता है। और मिला हुआ अपूर्व योग अफल जाता है, मौका हाथसे निकल जाता है। देहादिमें जो आत्मबुद्धि है, वही भवांतरमें देहादि बंधन प्राप्तिका कारण है। वर्तमानमें भी व्यामोह छोड़ते हुए यदि जीवको दुःखी होना पड़ता है, तो परभवमें कितना दुःखी होना पड़ेगा ? उस वक्त दुःखकी वेदना कितनी अकथ्य होगी !! इसका गंभीरतासे विचार करके वीर्य उछालना चाहिए। उल्लासित वीर्यसे आत्महितका प्रारम्भ होना चाहिए। (११४३)

‘वर्तमानमें चल रहे एक समयमें मैं परिपूर्ण अखण्ड ध्रुव चैतन्य हूँ - ऐसे स्वरूपानुभव द्वारा ज्ञान-वेदनका उदय - आविर्भाव है। कि जो ज्ञानवेदन रागसे भेद करता हुआ निःशंकित व निराकुल सुख सहित प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट हो रहा है और क्रमशः वृद्धिगत होता हुआ पूर्ण हो जायेगा। इस आत्माको जगतमें किसीसे कोई लाभ-नुकसान नहीं है - यह न्याय अगर बाहर जानेवाली वृत्ति पर तीरकी माफिक असर करे, तथारूप जागृति रहे, तो परसन्मुखता छूट जाये। इस आत्मासे शून्य ऐसा जगत पूर्णरूपेण उपेक्षा करने योग्य है। उसके प्रति जानेवाली वृत्ति स्वानुभूतिमें विघ्न करनेवाली है, स्वरूप-शांतिका काल (घातक) है-ऐसा जानकर हे जीव! स्वरूपस्थ हो!! (११५२)

२५४

बंबई, आषाढ सुदी ८, मंगल, १९४७
निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है;
और उससे निःसंगता प्राप्त होती है।

प्रकृतिके विस्तारसे जीवके कर्म अनंत प्रकारकी विचित्रतासे प्रवर्तन करते हैं; और इससे दोषके प्रकार भी अनंत भासित होते हैं; परंतु सबसे बड़ा दोष यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न ही न हो, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न न हो।

प्रायः मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्ममतमें होता है, और उससे वह उस धर्ममतके अनुसार प्रवर्तन करता है ऐसा मानता है; परंतु इसका नाम 'मुमुक्षुता' नहीं है।

'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षके लिये ही यत्न करना और तीव्र मुमुक्षुता यह है कि अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।

'तीव्र मुमुक्षुता'के विषयमें यहाँ कहना नहीं है परन्तु 'मुमुक्षुता' के विषयमें कहना है, कि वह उतपन्न होनेका लक्षण अपने दोष देखने में अपक्षपातता है और उससे स्वच्छंदका नाश होता है।

स्वच्छंदकी जहाँ थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है।

स्वच्छंद जहाँ प्रायः दब गया है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति'को रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं, ऐसा हम जानते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, 'परम दीनताकी न्यूनता और पदार्थका अनिर्णय।

इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे। इससे पहले इन्हीं कारणोंको अधिकतासे कहेंगे है।

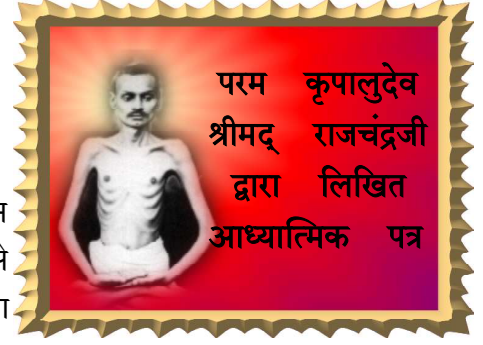
'इस लोककी अल्पभी सुखेच्छा' यह प्रायः तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेसे पहले होती है। उसके होनेके कारण ये हैं-निःशंकतासे यह 'सत्'है ऐसा दृढ़ नहीं हुआ है, अथवा यह 'परमानन्दरूप'ही है ऐसा भी निश्चय नहीं है; अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कितने ही आनंदका अनुभव होता है, इससे बाह्यसाताके कारण भी कितनी ही बार प्रिय लगते हैं (!) और इससे इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक जाती है।

'सत्पुरुषमें ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परम धर्म कहा है; और यह बुद्धि परम दीनताको सूचित करती है, जिससे सर्व प्राणियोंके प्रति अपना दासत्व माना जाता है और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह 'परम दीनता' जब तक आवरित रही है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है।

कदाचित् ये दोनों प्राप्त हो गये हों तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है, और मिथ्या समता आती है; कल्पित पदार्थमें 'सत्'की मान्यता होती है; जिससे

१. पाठान्तर—परम विनयकी न्यूनता।

२. पाठान्तर—तथारूप पहचान होनेपर सद्गुरुमें परमेश्वरबुद्धि रखकर उनकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना इसे 'परम विनय' कहा है। इससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह परम विनय जब तक नहीं आती तब तक जीवमें योग्यता नहीं आती।



कालक्रमसे अपूर्व पदार्थमें परम प्रेम नहीं आता, और यही परम योग्यताकी हानी है।

ये तीनों कारण प्रायः हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। मात्र दूसरे कारणकी कुछ न्यूनता किसी-किसीमें देखी है, और यदि उनमें सर्व प्रकारसे (‘परम दीनताकी कमीकी’) न्यूनता होनेका प्रयत्न हो तो वे योग्यताको प्राप्त होते हैं ऐसा जानते हैं। परम दीनता इन तीनोंमें बलवान साधन है; और इन तीनोंका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण है।

अधिक क्या कहें? अनंत कालमें यही मार्ग है।

पहले और तीसरे कारणको दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करना^१ और महात्माके योगसे उसके अलौकिक स्वरूपको पहचानना। पहचाननेकी परम तीव्रता रखना, तो पहचाना जायेगा। मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।

महात्मामें जिसे दृढ़ निश्चय होता है, उसे मोहासक्ति दूर होकर पदार्थका निर्णय होता है। उससे व्याकुलता मिटती है। उससे निःशंकता आती है जिससे जीव सर्व प्रकारके दुःखोंसे निर्भय हो जाता है और उसीसे निःसंगता उत्पन्न होती है, और ऐसा योग्य है।

मात्र आप सब मुमुक्षुओंके लिये यह अति संक्षिप्त लिखा है; इसका परस्पर विचार करके विस्तार करना और इसे समझना ऐसा हम कहते हैं।

हमने इसमें बहुत गूढ़ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है।

आप वारंवार विचार कीजिये। योग्यता होगी तो हमारे समागममें इस बातका विस्तारसे विचार बतायेंगे।

अभी हमारे समागमका संभव तो नहीं है; परन्तु शायद श्रावण वदी में करें तो हो सकता है; परन्तु वह कहाँ होगा उसका अभी तक विचार नहीं किया है।

कलियुग है, इसलिये क्षणभर भी वस्तुविचारके बिना नहीं रहना चाहिये यह महात्माओंकी शिक्षा है। आप सबको यथायोग्य पहुँचे।

१. पाठान्तर—परम विनयकी।

२. पाठान्तर—और परम विनयमें रहना योग्य है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अप्रैल-२०२१) का शुल्क श्री रणधीर परिचन्द्र घोषाल, कोलकाटा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मार्गदर्शन विषय सम्बन्धित
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

प्रश्न :- परिणाममेंसे एकत्व छोड़ देना, यही आपका कहना है?

उत्तर :- बस...यही कहना है। परिणाममेंसे एकत्व छोड़ दो! लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे ? - नित्य स्वभावमें एकत्व करे तब। निश्चय नित्य स्वभावमें दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्रसे एकत्व उठा लेना। २५६.

प्रश्न :- वृत्ति उठती रहती है, वह कैसे रुक जाए?

उत्तर :- एक समयकी वृत्तिको उसीमें रहने दो। 'मैं' त्रिकाली तो एक समयकी वृत्तिमें जाता ही नहीं। त्रिकालीमें अपनापन होते ही वृत्ति भी खिँचीज जायेगी (खिँची चली आएगी)। २५७.

पर्याय (त्रिकाली) द्रव्यसे सर्वथा ही भिन्न है; प्रमाणमें अभिन्नता भी कहनेमें आती है, लेकिन प्रमाण निश्चयनयको झूठा करके नहीं कहता है; निश्चयसे तो पर्याय सर्वथा भिन्न है। प्रदेश एक होनेसे प्रमाण उनको अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न ही कहता है-ऐसा नहीं है; भिन्न-अभिन्न दोनों कहता है। परन्तु 'एकान्त भिन्न है'- ऐसा ज़ोर दिए बिना, पर्यायमेंसे दृष्टि उठेगी नहीं। "अनेकांत पण सम्यक् एकान्त एवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुअे उपकारी नथी"-यही सत्य है। २६५.

प्रश्न :- परिणाम कैसे सुधरें?

उत्तर :- नित्य अपरिणामी ध्रुवधाममें दृष्टि बिराजमान करनेसे परिणाम सुधरने लगेंगे। २६७.

आखिर तो सदा एकान्त (अकेला) ही रहना है. तो शुरूसे ही (एकान्तका) दो-चार-पाँच घण्टोंका अभ्यास चाहिए। २६८.

यह सब (तत्त्व की) बात विकल्पात्मकरूप से जान लेने से शान्ति नहीं मान लेना, अभेद-दृष्टि प्रकट करना। २७२.

अपने सहज सुखकी पिपासा होनी चाहिए; जितनी तीव्र पिपासा...उतना जल्दी काम होता है। २९२.
